ISSN: 2456–5474 RNI No.UPBIL/2016/68367 Vol.-6* Issue-1* February- 2021
Innovation The Research Concept

सामाजिक परिवर्तन में आंदोलनों की भूमिका
Role of Movements in Social Change

Paper Submission: 15/02/2021, Date of Acceptance: 24/02/2021, Date of Publication: 25/02/2021

नीरज जायसवाल
सहायक प्राध्यापक,
इतिहास विभाग,
शासकीय महाविद्यालय
जैतहरी, अनूपपुर,
मध्य प्रदेश भारत

शेख ताजहसन
सहायक प्राध्यापक,
इतिहास विभाग,
शासकीय महाविद्यालय
पथरिया, दामोह,
मध्य प्रदेश भारत

सारांश

भारत विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। इसकी समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा रही है जो समय अनुसार स्वयं को विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप ढ़ालते हुए अनवरत चली आ रही है। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में भारतीय समाज में अनेक कुरीतियाँ व्याप्त हो गई थीं जिन्हें दूर करने के लिए विभिन्न सुधारकों ने सामाजिक आंदोलनों के माध्यम से दूर करने का प्रयास किया। साथ ही इसके अतिरिक्त सरकार ने भी समय–समय पर विभिन्न कानूनों को पारित कर दूर करने में अपना योगदान दिया। उक्त समस्त प्रयत्नों की फलस्वरुप भारतीय लोगों में सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। जिसने कालांतर में आधुनिक भारत के विकास की आधारशिला रखी।

India is one of the oldest civilizations in the world. It has a rich cultural tradition which has been continuously changing, adapting itself to different circumstances according to the time. In the 18th and 19th centuries, many evils had pervaded Indian society, to remove them, various reformers tried to do away with them through social movements. In addition to this, the government also contributed from time to time by passing various laws. As a result of all the above efforts, social, religious and political consciousness emerged among the Indian people. Which later laid the foundation for the development of modern India.

मुख्य शब्द : प्रजातीय, रेडिकल, जोरोस्ट्रियन धर्म, ब्रह्म विवाह ब्रह्म समाज, सत्यार्थ प्रकाश, गुलामगिरी।
Racial, Radical, Zoroastrian Religion, Brahma Vivah Brahmo Samaj, Satyarth Prakash, Ghulamgiri.

प्रस्तावना

भारत विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यताओं में से एक है जिसमें बहुरंगी विविधता और समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है। इसके साथ ही यह अपने आप को बदलते हुए समय के साथ ढालती आई है। ढ़लने की यह प्रक्रिया अनेक सामाजिक परिवर्तनों से से होकर गुजरी है। किन्तु, सामाजिक परिवर्तन आसानी से समाज को नहीं बदल सकते, क्योंकि यह संरक्षित हितों और मूल्यों दोनों की विरुद्ध होता है। इसलिए इसका विरोध तथा प्रतिकार होना स्वाभाविक है लेकिन कुछ समय बाद धीरे–धीरे परिवर्तन होते भी हैं इसका सबसे अच्छा उदाहरण 19वीं शताब्दी में सुधार आंदोलन है।

समाजिक परिवर्तन या आंदोलन प्रायः किसी जनहित के मामले में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से उत्पन्न होते हैं। किंतु, कभी–कभी यथास्थिति बनाए रखने के लिए प्रतिरोधी आंदोलन भी जन्म ले लेते हैं जैसे राजा राममोहन राय ने सती प्रथा का विरोध किया तो सती प्रथा के समर्थकों ने धर्म सभा स्थापित की। जब सुधारवादियो ने बालिका शिक्षा की माँग की तो बहुत से लोगों ने यह कहकर इसका विरोध किया कि यह समाज के लिए विनाशकारी होगा। जब सुधारकों ने विधवा पुनर्विवाह का प्रचार किया तो उसका सामाजिक बहिष्कार किया गया।

सामाजिक आंदोलनों को किस प्रकार देखा और वर्गीकृत किया जाता है यह व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है उदाहरण के लिए 1857 में जो ब्रिटिश शासकों के लिए विद्रोह था वही भारतीय राष्ट्रवादीयों के लिए स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम तथा आन्दोलन था। विद्रोह वैध सत्ता यानी ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध अवज्ञा की कार्रवाई थी, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष ब्रिटिश राज की वैधानिकता को चुनौती थी, यह दर्शाता है कि लोग कैसे सामाजिक आंदोलन को भिन्न अर्थ देते हैं।

प्रस्तुत शोध पत्र में 19वीं शताब्दी में हुए सामाजिक सुधार आंदोलनों पर नए दृष्टिकोण से इसके कारणों तथा तत्कालीन सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करने डालने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त समाज सुधारकों की वैचारिक पृष्ठभूमि पर भी विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

19वीं शताब्दी में भारत की सामाजिक स्थिति

वस्तुतः 19वीं शताब्दी तक भारत का सामाजिक ढाँचा छिन्न–भिन्न हो चुका था तथा समाज विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था। यहाँ के समाज में छुआछूत, जात–पाँत आदि बुरी तरह फैले हुए थे। एक ही समाज का एक उच्च व्यक्ति उसी समाज के तथाकथित निम्न व्यक्ति से घृणा करता था। प्रारंभ में हिन्दू समाज चार वर्णों में विभाजित था, जिसका आधार कर्म था। लेकिन, बाद में प्रजातीय सम्मिश्रण, भौगौलिक विस्तार, हस्तशिल्प के विकास, नए व्यवसाय के उद्भव आदि कारणों से प्रारंभिक वर्ण विविध जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हो गए।

जाति–व्यवस्था से ही समाज में एक अन्य घृणित व्यवस्था ने जन्म लिया, यह व्यवस्था थी अस्पृश्यता या छुआछूत की। इस कारण सामाजिक उत्पीड़न इतना अमानवीय हो गया था कि जातिगत आधार पर निम्न स्तर के लोगों को अछूत और निकृष्ट मान लिया था। 19वीं शताब्दी तक समाज इसका आदी हो चुका था। व्यवस्था यह हो गयी थी कि एक वर्ग का व्यक्ति अपने ही वर्ग में रहता था। इसमें रहते हुए व्यक्ति ने अपने पूर्वजों के परंपरागत तौर तरीके अपना लिए थे। इस समय समाज में यह व्यवस्था इतना घृणित रुप ले चुकी थी कि एक सवर्ण की नजर में जो अछूत होता था, वह अछूतों में भी अपनी जातिगत आधार पर अपने आपको श्रेष्ठ समझता था एवं अपनी जाति को उच्च मानते हुए दूसरे अछूतों को जाति के आधार पर नीच मानते हुए वैसा ही व्यवहार करता था जैसा कि उसके साथ सवर्ण वर्ग करते थे।[1]

यह स्थिति राष्ट्रीय भावना और प्रजातांत्रिक राज्यव्यवस्था के विकास को अवरुद्ध करती थी। सामाजिक एकता के बिना देश को कई दुष्परिणाम भुगतने पड़े थे, जिसमें विदेशी शासन भी एक था।

महिलाओं की दयनीय दशा

सदियों से भारतीय समाज में अनेक घृणास्पद सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाएँ प्रवेश पा चुकी थीं और इन घृणित प्रथाओं की सबसे ज्यादा शिकार ये स्त्रियाँ ही हुई थीं। इन प्रथाओं में सबसे पहली थी बाल हत्या समाज में इसका काफी प्रचलित था। लड़कियों को पैदा होते ही मार डाला जाता था। यह कार्य गुप्त रुप से और बड़े पैमाने पर किया जाता था। यह प्रथा मुख्यतः आर्थिक कारणों से थी। वे अपनी नवजात बच्चियों को इसलिए मार देते थे क्योंकि उनके विवाह पर एक बड़ी धन राशि खर्च करना पड़ती थी। मुनहा राजपूत भी अपनी जाति की शुद्धता बनाये रखने के लिए लड़कियों का वध करते थे। इसी तरह पंजाब में बेदियों के लिए यह गौरव की बात थी कि वे अपनी लड़की को छोटी जाति में नहीं देंगे। लड़कियों को मारने के तरीके भी अत्यंत बर्बरता पूर्ण हुआ करते थे।[2]

दूसरी थी बाल विवाह, यह प्रथा हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही समान रुप से प्रचलित थी एवं दोनों में ही इसका समान रुप से पालन होता था। 18वीं शताब्दी तक यह भारतीय समाज में पूरी तरह प्रचलित हो चुकी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों के स्वास्थ्य की अवनति और जनसंख्या में वृद्धि साथ–साथ होती रही। बाल विवाह से कई और अनेक बुराइयों ने जन्म लिया। इनमें सबसे बड़ी बुराई थी बाल विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या। तत्कालीन भारतीय समाज में ऐसी विधवायें भी थीं जिनकी आयु 5 वर्ष से भी कम थी।[3] इन छोटी–छोटी विधवा लड़कियों के पास जीवित रहने के लिए कोई साधन नहीं होता था। सामाजिक कलंक और अंधविश्वास की भावनाओं के वातावरण में उनका जीवन अत्यंत ही दयनीय था। निकट संबंधी तथा समाज उन्हें हमेशा तिरस्कार एवं संदेह की दृष्टि से देखते थे। समाज के सभी वर्गों में अधिकांश की स्थिति पीड़ा और व्यथा से भरी थी।

तीसरी थी बहु विवाह, स्त्रियों के सामाजिक शोषण का एक अन्य घिनौना रुप बहु विवाह भी था। यह प्रथा हिन्दू और मुसलमानों दोनों में समान रुप से विद्यमान थी। 18वीं सदी तक बहु विवाह की इस प्रणाली ने समाज में विकट स्थिति उत्पन्न कर दी थी। एक कुलीन दो, तीन या चार स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता था। समाज में ऐसे माता–पिता भी थे जो एक ही कुलीन के साथ अपनी सारी पुत्रियों का विवाह कर देते थे। कुलीनों के लिए विवाह की कोई आयु सीमा नहीं थी। वह किसी भी आयु में, किसी भी स्त्री के साथ चाहे उसकी आयु कितनी ही कम क्यों न हो, विवाह कर सकता था।[4]

इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह था कि इतने सारे विवाहों के बाद कुलीनों को अपनी पत्नी का खर्च भी नहीं उठाना पड़ता था। ऐसी विवाहित लड़कियाँ अपने माता–पिता के घर ही रहती थीं एवं उनके माता–पिता ही उनका भरण–पोषण करते थे। इस प्रथा का घातक परिणाम यह हुआ कि समाज में व्यभिचार एवं सामाजिक अनैतिकता को बढ़ावा मिला। धर्म की ओर से बिना किसी प्रकार का समर्थन प्राप्त किये यह प्रथा इतनी विकरालता के साथ बढ़ी कि यह एक सामाजिक अंधविश्वास के रुप में परिवर्तित हो गयी और सारे समाज के पतन में इसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।[5]

चौथी थी पर्दा प्रथा इसके कारण स्त्रियों की स्थिति असंतोषजनक थी। यह हिन्दुओं और मुसलमानों में समान रूप से प्रचलित थी। वैदिक काल में स्त्रियों को जो स्वतंत्रता और सम्मान प्राप्त था, वह मध्यकाल आते–आते कल्पना मात्र रह गयी। ब्रिटिश शासन के प्रारंभ होने के समय यह भावना अपने चरम पर थी। इस समय लड़कियों को शिक्षण संस्थाओं में जाने का अवसर नहीं मिलता था। पर्दा प्रथा ने उन्हें अनेक सामाजिक प्रतिबंधों में जकड़ रखा था। पूरी तरह पर्दे में रहने के कारण उनके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का ह्रास हुआ। किन्तु, फिर भी इस समय कुछ विशेष जातियों के सम्पन्न व्यक्तियों तथा राजपूतों की लड़कियों को किसी न किसी तरह प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त हो जाती थी। परंतु इन सबका दायरा अत्यंत ही सीमित था। विशाल भारत में इस तरह

के नगण्य उदाहरण थे। आमतौर पर भारतीय नारी अशिक्षित ही बनी रही।

पाँचवीं थी सती प्रथा, अन्य सामाजिक कुरीतियों की तरह ही भारतीय समाज में सती प्रथा का काफी प्रचलन था। यह मुख्यतः बंगाल, राजपूताना तथा दक्षिण भारत के विजय नगर में प्रचलित थी। सती प्रथा का आरंभ कैसे हुआ? इसके प्रमाण स्पष्टतः कहीं प्राप्त नहीं होते हैं। परंतु जैसा कि मैक्समूलर ने लिखा है– 'अज्ञात समय में यह प्रथा ऋग्वेद के एक अंश की गलत व्याख्या के कारण शुरू हुई।'[6]

19वीं शताब्दी तक समाज में यह प्रथा काफी दृढ़ हो गई थी। 11वीं शताब्दी में अलबरूनी ने इस संबंध में यह विवरण दिया कि यदि किसी हिन्दू की पत्नी के पति की मृत्यु हो जाती है तो वह दूसरे व्यक्ति से विवाह नहीं कर सकती। उसे दो में से केवल एक ही रास्ता चुनना है या तो वह आजीवन विधवा रहे या सती हो जाए। इन सबके पीछे मुख्यतः धार्मिक भावना थी। स्वर्ग–प्राप्ति की आशा ही वास्तव में विधवाओं को इन चरम यातनाओं के लिए प्रेरित करती थी। अंधविश्वास के कारण ही माता–पिता अपनी छोटी–छोटी लड़कियों को भी चिता में बैठने के लिए बाध्य कर देते थे। कई विधवाएँ अपनी स्वेच्छा से सती हो जाती थीं, परंतु अधिकांश को समाज जबर्दस्ती इसके लिए बाध्य करता था।

उपर्युक्त कारणों एवं स्थितियों के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी में सामाजिक आंदोलनों का उदय हुआ जिनका स्वरूप बहुमुखी एवं व्यापक था।

भारतीय समाज सुधारकों ने भारत की तात्कालिक जड़ता को समाप्त करने हेतु समाज में जाति प्रथा की समाप्ति, नारियों की स्थिति में सुधार एवं समानाधिकार, सती प्रथा एवं बाल हत्या की समाप्ति, बाल विवाह का उन्मूलन, विधवा विवाह के समर्थन के प्रयास, सामाजिक और कानूनी असमानता के विरोध आदि प्रश्नों पर आंदोलन चलाए। इन समाज सुधारकों ने वैयक्तिक स्वतंत्रता, सामाजिक एकता और राष्ट्रवाद के सिद्धांतों पर बल दिया और उनके लिए संघर्ष किए। इन्होंने जहाँ एक ओर धार्मिक एवं समाज सुधारों का आह्वान किया, वहीं दूसरी ओर भारत के अतीत् को उजागर कर भारतीयों के मन में आत्मसम्मान एवं आत्मगौरव की भावना जगाने का भी प्रयास किया। इन आंदोलन के तीन महत्त्वपूर्ण पहलू थे पहला भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं आडम्बरों का उन्मूलन, दूसरा समाज एवं देश की प्रगति एवं तीसरा सामाजिक संगठनों के निर्माण की पद्धति की जाँच करना और भावी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना।

राजा राममोहन राय

भारत में सर्वप्रथम सुधार आंदोलनों का शुभारंभ बंगाल से हुआ और इसका नेतृत्व राजा राममोहन राय ने किया। उन्होंने समाज में स्त्रियों को उचित स्थान दिलाने और जात–पाँत की कठोरता को कम करने का प्रयास किया। उनके विचार से जात–पाँत की प्रथा राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी। उन्होंने समाज में नारी की दयनीय दशा सुधारने का विशेष प्रयास किया तथा सती प्रथा का घोर विरोध किया। इस प्रथा का अंत करने के लिए उन्होंने हिन्दू शास्त्रों से उदाहरण देकर सिद्ध किया कि इसे किसी भी प्रकार का न तो नैतिक समर्थन प्राप्त है और न धार्मिक। उन्होंने इस प्रथा के पीछे छिपे आर्थिक स्वार्थ का भी पर्दाफाश किया। उनके इन प्रयासों के परिणामस्वरूप 1829 में लार्ड विलियम बैंटिंक ने सती प्रथा के विरूद्ध कानून बनाकर उसे दण्डनीय अपराध घोषित किया। उन्होंने अपने विचारों के प्रसार के लिए बंगला में 'संवाद कौमुदी' (1821), फारसी में 'मिरात–उल–अखबार' (1822) तथा हिन्दी में 'बंगदूत' (1829) निकाला।[7] उनकी ये पत्र पत्रिकाएँ राष्ट्रीय नवजागरण की संदेश वाहक थीं। इन पत्रों के लेखों के माध्यम से उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों के विरूद्ध संघर्ष किया।

राजा राममोहन राय ने आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन करते हुए उसकी आवश्यकता पर बल दिया। वे इसे आधुनिक चिन्तन का एक ऐसा माध्यम मानते थे जो भारतीय जनता को ज्ञान–विज्ञान, समाज–सुधार और राजनीति में पश्चिम ने जो विशाल उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, उसके निकट लायेगी। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप 1815 में 'हिन्दू कॉलेज' (प्रेसीडेन्सी कॉलेज) की स्थापना हुई जो एक ऐतिहासिक घटना थी। 1817 में उन्होंने कलकत्ता में एक इंग्लिश स्कूल की स्थापना की, जिसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त पाश्चात्य दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त 1825 में उन्होंने 'वेदांत कॉलेज' की स्थापना की जिसमें भारतीय विद्या के साथ–साथ सामाजिक एवं भौतिक विज्ञान की पढ़ाई होती थी।

वस्तुतः राजा राममोहन राय का सबसे बड़ा योगदान 'ब्रह्म समाज' (1828) की स्थापना था।[8] इसके माध्यम से उन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आंदोलनों को जन–जन तक पहुँचाया। समाज के रूढ़िवादी तत्त्वों के विरोध के बाद भी इन्होंने बंगाल के शिक्षित बुद्धिजीवियों को अपने प्रगतिशील विचारों को अपनाने के लिए प्रेरित किया।

उन्होंने पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान द्वारा सृजित नए मूल्यों को आत्मसात करने और उन्हें भारत के परंपरागत मूल्यों में सम्मिलित करने का प्रयास किया, जिससे तात्कालिक चुनौतियों का सामना किया जा सके। उन्होंने 1828 में लिखा 'मुझे यह कहते हुए दुःख हो रहा है कि हिन्दू धर्म की जिस वर्तमान प्रणाली पर हम लोग चल रहे हैं वह हमारे राजनीतिक हितों को बढ़ावा देनेवाली नहीं है। जात–पाँत के भेदभावों ने जनता को कितने ही छोटे–छोटे टुकड़ों में बाँट कर, हमें राजनीतिक भावनाओं से शून्य कर दिया है। अनगिनत धार्मिक कर्मकाण्डों और पवित्रता संबंधी नियमों ने हमें किसी भी कठिन कार्य को करने के पूर्णतः अयोग्य बना दिया है। मेरा विचार है कि इस हिन्दू धर्म में कुछ न कुछ परिवर्तन होना ही चाहिए, कम से कम इसलिए कि हमको राजनीतिक तौर से लाभ हो और जनता को सामाजिक सुख मिल सके।'[9]

राजा राममोहन राय के पश्चात् उनके कार्यों को देवेन्द्रनाथ टैगोर (1817–1907) तथा केशवचन्द्र सेन (1838–84) ने आगे बढ़ाया। 1865 तक 'ब्रह्म समाज' की कुल 54 शाखाएँ सारे भारत में थीं। केशवचन्द्र सेन के प्रयासों से 1872 में सरकार ने नेटिव मेरिज एक्ट कानून

बनाया, जिसके तहत् बाल विवाह और बहु विवाह को प्रतिबंधित कर दिया गया।

बंगाल का प्रगतिवादी आंदोलन

19वीं शताब्दी के तीसरे व चौथे दशक में बंगाल के बुद्धिजीवियों में एक 'रेडिकल' (उग्रवादी) प्रवृत्ति का जन्म हुआ[10] जिसे 'यंग बंगाल' आंदोलन के नाम से जाना गया। इस आंदोलन के प्रवर्तक युवा हेनरी विवियन डिरोजियो (1809–31) थे, जो हिन्दू कॉलेज में प्राध्यापक (1826–31) थे। डेरेजियो और उनके अनुयायियों ने तत्कालीन समाज में व्याप्त सभी कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का विरोध किया और वाद–विवाद, लेखन तथा बौद्धिक संगठनों के माध्यम से अपने विचारों का प्रसार किया। आत्मिक उन्नति और समाज सुधार के लिए 'ऐकेडमिक ऐसोसिएशन' तथा 'सोसायटी फॉर द एक्वीजीशन ऑफ जनरल नॉलेज' जैसे संगठनों की स्थापना की गयी।

यह आंदोलन परंपरावादी और रूढ़िवादी समाज में अचानक आमूल–चूल परिवर्तन लाना चाहता था। इस आंदोलन ने जनता को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रश्नों पर समाचार पत्रों, पुस्तिकाओं और सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा शिक्षित करने की परंपरा को आगे बढ़ाया। यद्यपि इन आंदोलनकारियों को अपने प्रयासों में विशेष सफलता नहीं मिल पाई, परंतु इनका समाज सुधार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ईश्वरचन्द विद्यासागर

राजा राममोहन राय ने नारियों की दशा सुधारने की दिशा में जो कार्य किये, उसे विद्यासागर ने अपने ढंग से ब्रह्म समाज से अलग रहते हुए आगे बढ़ाया। उन्होंने विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में आंदोलन चलाया और 1855 में 900 से अधिक व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाकर, अंग्रेजी सरकार से विधवा–पुनर्विवाह के पक्ष में अधिनियम बनाने का अनुरोध किया। उनके प्रयासों से उत्साहित होकर डलहौजी ने 1856 में एक अधिनियम पारित करके विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अधिकार दिया।

सरकार ने कानून बनाकर सामाजिक सुधार में सहायता तो प्रदान की, परंतु विद्यासागर भली भाँति जानते थे कि केवल इतनी सफलता काफी नहीं थी। इसलिए उन्होंने स्वयं कुछ विधवा स्त्रियों के विवाह करवाए और समाज के सम्मुख उदाहरण रखे। उस समय बंगाल के कुलीन परिवारों में बहु विवाह की प्रथा के कारण स्त्रियों का जीवन कष्टप्रद बना हुआ था। विद्यासागर ने ऐसे परिवारों के विरूद्ध आवाज उठाई और इसके विरोध में उन्होंने आंदोलन चलाया।

प्रार्थना समाज

प्रार्थना समाज ने महाराष्ट्र एवं दक्षिण भारत में समाज सुधार के क्षेत्र में कार्य किया। इसकी स्थापना 1867 में डा. आत्माराम पाण्डुरंग (1833–98) तथा महादेव गोविन्द रानाडे (1842–1901) के प्रयासों से हुई थी। प्रार्थना समाज के सदस्यों में प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान आर. जी. भण्डारकर तथा एन. जी. चन्द्रावरकर (1855–1923) आदि भी प्रमुख थे।

समाज सुधार के क्षेत्र में प्रार्थना समाज ने अपने चार प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए ये थे–जात–पाँत का विरोध, पुरूषों तथा स्त्रियों की विवाह आयु बढ़ाना, विधवा–पुनर्विवाह तथा स्त्री शिक्षा। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना समाज ने अछूतों, दलितों और पीड़ितों के लिए कई कल्याणकारी संगठनों का निर्माण किया। जिनमें 'दलित जाति मण्डल', 'समाज सेवा संघ' आदि प्रमुख थे।[11] इन सभी के अलावा प्रर्थना समाज ने मजदूरों की शिक्षा के लिए रात्रिकालीन स्कूल खोले और पण्डरपुर में एक अनाथालय बनवाया।

रानाडे ने विधवाओं की दयनीय स्थिति में सुधार लाने के लिए महाराष्ट्र में 'विडो रिमैरिज ऐसोसिएशन' तथा स्त्रियों की शिक्षा के लिए 'दक्कन ऐज्युकेशनल सोसायटी' की स्थापना की। पंजाब में दयाल सिंह प्रन्यास ने इस समाज के विचारों के प्रचार–प्रसार के लिए 1910 में दयाल सिंह कॉलेज स्थापना की।[12] मद्रास में भी इस समाज के कई केन्द्र खोले गए। प्रार्थना समाज के अन्य सुधारकों में अगरकर, गोपाल हरि देशमुख, मालाबारी, शिंदे, विष्णुशास्त्री पण्डित आदि प्रमुख थे।

आर्य समाज

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्म एवं समाज सुधार आंदोलनों में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य समाज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्य समाज की स्थापना बम्बई (1875) में की गई थी। शीघ्र ही आर्य समाज की शाखाएँ पंजाब, संयुक्त प्रांत, राजस्थान, बिहार में स्थापित हो गई।[13]

समाज सुधार के कार्यों में आर्य समाज की भूमिका महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय रही है। उन्होंने समाज में व्याप्त जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था का विरोध करते हुए उसकी कटु आलोचना की। उनके अनुसार समाज में सभी व्यक्तियों को समान अवसर उपलब्ध होना चाहिए। अछूतों के उद्धार के लिए आर्य समाज ने निरंतर प्रयत्न किए। स्वयं दयानन्द सरस्वती ने दलित जातियों के हाथों से भोजन तथा जल ग्रहण किया। महात्मा गाँधी ने स्वामी दयानन्द की प्रशंसा करते हुए उनके अछूतोद्धार के कार्यों को महान् योगदान के रूप में माना।[14] वर्तमान में 'दयानन्द दलित उद्धार मण्डल' अछूतों की दशा सुधारने में प्रयत्नशील है।

आर्य समाज ने बाल विवाह, बहु विवाह, पर्दा प्रथा आदि कुरीतियों का विरोध किया और नारियों की स्थिति सुधारने के लिए कन्या स्कूलों तथा कॉलेजों की स्थापना कर उन्हें शिक्षित करने का प्रयास किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लड़के और लड़कियों की विवाह आयु क्रमशः 25 व 16 वर्ष निर्धारित की।[15] इन प्रयासों के परिणामस्वरूप विवाह योग्य आयु का स्तर धीरे–धीरे ऊँचा होता गया। इसके अतिरिक्त आर्य समाज ने अंतरजातीय विवाह तथा विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया और दहेज प्रथा का विरोध किया।

शिक्षा के क्षेत्र में आर्य समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। सर्वप्रथम लाहौर (1886) में 'दयानंद ऐंग्लों वैदिक स्कूल' की स्थापना की गई, जिसे 1889 में 'दयानन्द ऐंग्लो कॉलेज' बना दिया गया। इसी प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द ने हरिद्वार में 'गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय' (1902) की स्थापना की। कालांतर में देश के अन्य भागों में ऐसे ही डी. ए. वी. स्कूल एवं कॉलेजों की स्थापना की गई जिसके माध्यम से शिक्षा को समाज

के सभी वर्गों में पहुँचाने का प्रयास किया गया। साथ ही इन शिक्षण संस्थानों के माध्यम से आर्य समाज ने भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों को उजागर करने और विद्यार्थियों के मन में आत्मगौरव तथा आत्मसम्मान भरने का प्रयास किया।

हिन्दी भाषा के विकास में भी आर्य समाज का योगदान उल्लेखनीय रहा। दयानन्द सरस्वती ने अपने विचार जनता तक पहुँचाने के लिए हिन्दी भाषा को माध्यम बनाया और अपना प्रमुख ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में ही लिखा। आर्य समाज के प्रयास के परिणामस्वरूप राजपूताने के कई राज्यों ने हिन्दी लिपि (देवनागरी) को अपने प्रशासनिक कार्य के लिए स्वीकार किया। संयुक्त प्रांत और पंजाब के आर्य समाज शिक्षण संस्थानों ने भी हिन्दी भाषा को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया।

आर्य समाज ने भारत में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। यद्यपि आर्य समाज ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक गतिविधियों में भाग नहीं लिया, परंतु परोक्ष रूप से राष्ट्रीय आंदोलन को प्रभावित किया। लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, पंडित गुरूदत्त और स्वामी श्रद्धानन्द आदि राष्ट्रवादी नेताओं पर आर्य समाज का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

रामकष्ण मिशन

रामकृष्ण परमहंस (1834–1886)[16] कलकत्ता के दक्षिणेश्वर काली के मंदिर के पुरोहित थे। आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण स्वामी विवेकानन्द (1863–1902)[17] उनके संपर्क में आए और उनसे प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गए। रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के पश्चात् विवेकानन्द ने सन्यास वेश धारण किया और अपने गुरू के उपदेशों का प्रचार–प्रसार भारत में ही नहीं वरन् विदेशों में भी किया।

स्वामी विवेकानन्द 'सर्वधर्म सम्मेलन';Parliament of Religions) 1893 में भाग लेने के लिए अमेरिका के शिकागो शहर गए। संसार के सामने पहली बार भारत की सांकृतिक महत्त्व को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया, जिससे लोग बड़ी संख्या में प्रभावित हुए। वहाँ पर उन्होंने वेदांत समाज की स्थापना की। हिन्दू धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने लन्दन और पेरिस की यात्राएँ कीं।

स्वदेश आने पर उन्होंने अपने गुरू की स्मृति में 1897 में बारानगर में 'रामकृष्ण–मिशन' की स्थापना की। इसके पीछे उनका उद्देश्य अपने गुरू के आदर्शों, उपदेशों एवं कार्यों को जन–जन तक पहुँचाना था। उन्होंने मिशन के तीन उद्देश्य निर्धारित किये– पहला, वेदांत के आध्यात्मवाद का संदेश दूर–दूर तक प्रसारित करना। दूसरा, विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के बीच समन्वय और सद्भाव स्थापित करना और तीसरा, मानव सेवा को ईश्वर सेवा समझना।[18] 1899 में विवेकानन्द ने कलकत्ता में बेलूर मठ की स्थापना की। बाद में यही मिशन की गतिविधियों का केन्द्र बना।[19] मिशन अपनी स्थापना से ही समाज सेवा के कार्य में संलग्न रहा है। इसने अकाल, बाढ़, भूकम्प आदि के समय लोक सेवा के कार्य किए। इसके अतिरिक्त मिशन ने विभिन्न स्थानों पर अस्पताल, स्कूल, कॉलेज, हॉस्टल आदि भी स्थापित किए। आज मिशन की शाखाएँ केवल भारत में ही नहीं, वरन् पाकिस्तान, बर्मा, श्रीलंका, मलाया, फिजी, मौरिशस, उत्तर व दक्षिण अमेरिका और यूरोप के विभिन्न देशों में स्थापित हैं।

ज्योतिराव गोविन्दराव फुले

19वीं शताब्दी के धार्मिक और सामाजिक आंदलनों ने पश्चिमी और दक्षिणी भारत में भी निम्न जातियों में भी चेतना जगाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। जाति प्रथा के विरोध और असमानता के सिद्धान्त ने भी इन आंदोलनों को बढ़ावा दिया। अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त कानून में समानता, रेल, तार, डाक, व्यवस्था, शिक्षा, साहित्य और समाचार–पत्र आदि सभी ने इनमें चेतना का संचार किया।

19वीं शताब्दी की निम्न जातियों में जागृति उत्पन्न करने में ज्योतिराव गोविन्दराव फुले (1827–1990)[20] का नाम महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने निम्न जातियों में जागृति लाने तथा उन्हें सामाजिक न्याय और आत्मसम्मान दिलाने का महत्तवपूर्ण प्रयास किया। नारी शिक्षा के लिए उन्होंने 1851 में पूना में एक 'कन्या विद्यालय' खोला। उन्होंने 1873 में 'सत्यशोधक समाज'[21] की स्थापना की जिसका उद्देश्य समाज में पिछड़े और उपेक्षित वर्ग को सामाजिक न्याय दिलाना था। इसके साथ ही उन्होंने विधवा पुनर्विवाह के लिए आवाज उठाई। ज्योतिराव फुले के प्रयासों से अनेक विद्यालयों एवं अनाथालयों की स्थापना की गयी।

उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें 'धर्म तृतीय रत्न', 'इशारा', 'शिवाजी की जीवनी' प्रमुख थीं। 1872 में उन्होंने एक पुस्तक 'गुलामगिरी'[22] भी लिखी। शीघ्र ही ज्योतिराव अपने समाज सुधार के कार्यों से प्रभावित होकर लोग इन्हें 'महात्मा' कहने लगे।

इस प्रकार ज्योतिराव फुले ने निम्न जातियों में जागृति लाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। उनके द्वारा किये गये कार्यों से निम्न वर्ग के लोगों की स्थिति में सुधार आया और वे लोग शिक्षित होने लगे।

थियोसोफिकल सोसायटी

थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना 1875 में अमेरिका में हुई थी। इसकी स्थापना रूसी महिला मैडम हेलना पेट्रोवना ब्लावात्सकी (1831–91) और अमेरिकी सैनिक अफसर हेनरी स्टील ऑलकॉट (1831–97) ने की थी। समाज सेवा और धार्मिक भ्रातृत्व के प्रचार–प्रसार हेतु उन्होंने इस संस्था का गठन किया। भारत में 1882 में मद्रास के निकट 'अड्यार' नामक स्थान पर इस संस्था का मुख्यालय बनाया गया, किन्तु भारत में इसकी सफलता का अध्याय श्रीमती ऐनीबेसेंट के द्वारा कार्यभार संभालने पर आरंभ होता है।

संस्था की शाखाएँ सम्पूर्ण भारत में स्थापित की गई, परंतु दक्षिण भारत में इसका प्रभाव अधिक रहा। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ऐनीबेसेंट ने बनारस में 'सेन्ट्रल कॉलेज'[23] की स्थापना की जिसे आगे चलकर पं. मदनमोहन मालवीय के सहयोग से 1916 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में परिवर्तित कर दिया गया। थियोसोफिकल सोसायटी ने भारतीयों में उनके प्राचीन गौरव को उजागर कर आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न किया और राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

राष्ट्रीय स्तर के इन धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आंदोलनों के अतिरिक्त स्थानीय स्तर पर भी धार्मिक एवं सामाजिक आंदोलन हुए, जिन्होंने क्षेत्रीय स्तर पर जागरूकता उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन आंदोलनों ने न कोई सिद्धांत प्रतिपादित किए और न ही कोई बड़ा आध्यात्मिक योगदान दिया, किन्तु फिर भी इनमें कुछ अच्छाइयाँ थीं। इनमें से अधिकांश आंदोलन हिन्दुओं के उन निम्नवर्गीय समाज सुधारकों द्वारा चलाए गए थे जो हिन्दू समाज की सदियों पुरानी बुराईयों के शिकार थे और इनमें धार्मिक पुनरूत्थान की बड़ी आवश्यकता थी। ये आंदोलन उदारवादी एवं सुधारवादी दृष्टिकोण के पोषक थे। इन आंदोलनों के फलस्वरूप हिन्दू समाज के अस्पृश्य लोगों में अपने उत्थान के लिए जागृति की भावना उत्पन्न हुई।

इन सुधार आंदोलनों में प्रमुख रूप से स्वामी नारायण सम्प्रदाय (गुजरात), पलटूदासी सम्प्रदाय (अवध के आसपास), बलरामी सम्प्रदाय (नादिया), सतनामी सम्प्रदाय {उत्तर भारत एवं मध्य भारत (वर्तमान छत्तीसगढ़}, कर्त्ताभंज सम्प्रदाय (बंगाल), दरवेश फकीर सम्प्रदाय (ढाका), कुदापंथी सम्प्रदाय (उत्तर भारत), महिमा आंदोलन (उड़ीसा), रामस्नेही पंथ (शाहपुर), देव समाज (पंजाब) इत्यादि प्रमुख थे।[24]

इस प्रकार भारत में चलाए गए धर्म एवं समाज सुधार आंदोलनों ने भारतीयों को अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और ज्ञान से परिचित कराया जिससे उनमें आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास की भावना को बढ़ावा मिला। कालांतर में उन्होंने सरकार पर प्रभाव डाला जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी सरकार ने उनकी दशा सुधारने के लिए विभिन्न कानूनों का निर्माण किया।

मुस्लिम समाज में सुधार आंदोलन

मुसलमानों में पुनर्जागरण हिन्दुओं की अपेक्षा देर से और शनैः–शनैः आया। धर्म एवं समाज सुधार की दृष्टि से 19वीं सदी में मुसलमानों में वहाबी, अहमदिया तथा अलीगढ़ आंदोलन हुए।

वहाबी आंदोलन

इस्लाम धर्म के पुनरूत्थान के लिए अरब देश में इबन अब्दुल वहाब के मार्गदर्शन में वहाबी आंदोलन का उदय हुआ। भारत में भी इस्लाम धर्म अपना मूलस्वरूप खोता जा रहा था और उसमें भी अनेक बुराइयाँ आ गईं थीं। अतः मुस्लिम समाज में व्याप्त इन बुराइयों को दूर करने के उद्देश्य से सैयद अहमद बरेलवी, शाह मुहम्मद तथा मौलाना अब्दुल हई ने अरब में चलाए गए वहाबी आंदोलन से प्रभावित होकर भारत में वहाबी आंदोलन चलाया।

यह आंदोलन इस्लाम की शुद्धता को कायम रखने, भारत से इस्लाम विरोधी प्रवृत्तियों को समाप्त करने का उद्देश्य लेकर आगे बढ़ने वाला पुनरूत्थानवादी आंदोलन था। यह आंदोलन समय के साथ अधिकाधिक जुझारू रूप धारण करता चला गया, और आगे चलकर इस आंदोलन ने राजनीतिक संघर्ष का रूप ले लिया। आंदोलनकारियों ने अपना उद्देश्य सभी गैर इस्लामी शासकों का तख्ता उलटना और भारत में पूर्णतः इस्लामी नियम कानून पर चलने वाली सरकार की स्थापना करना बनाया।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अभियान का संचालन उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रांत के कबायली प्रांतों से किया गया। यह जेहाद बड़े पैमाने पर आरंभ किया गया। हिन्सक और सरकार विरोधी होने के कारण इस आंदोलन को भारत में विशेष सफलता नहीं मिली। पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत के ओबेराबाद जिले में बालाकोट नामक स्थान पर सिक्खों से संघर्ष के दौरान सैयद अहमद बरेलवी की मृत्यु हो गई। इनकी मृत्यु के पश्चात् यह आंदोलन पृष्ठभूमि में चला गया। लेकिन, इस आंदोलन का प्रभाव कई वर्षों तक भारत के विभिन्न स्थानों पर बना रहा। कालांतर में इस आंदोलन का मुख्य केन्द्र पटना बना रहा।[25]

अहमदिया आंदोलन

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मिर्जा गुलाम अहमद (1838–1909) के नेतृत्व में मुस्लिम धर्म एवं समाज सुधार के लिए 'अहमदिया आंदोलन' चलाया गया। यह आंदोलन उदारवादी सिद्धांतों पर आधारित था। इसने 'जिहाद' के सिद्धांत का विरोध किया और सभी राष्ट्रीय सम्प्रदायों के पारस्परिक भ्रातृत्व के सिद्धांत में आस्था प्रकट की।[26]

इस आंदोलन ने भारतीय मुसलमानों में पाश्चात्य उदारवादी शिक्षा का प्रचार किया। इसके लिए अहमदिया लोगों ने कई स्कूल एवं कॉलेजों की स्थापना की और अंग्रेजी तथा देशी भाषाओं में पुस्तकें और पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं। अपने सिद्धांतों की व्याख्या अपनी पुस्तक 'बहरीन–ए–अहमदिया' में की है।[27] इस आंदोलन ने मुसलमानों में सामाजिक चेतना जगाने का प्रयास किया।

अलीगढ़ आंदोलन

जो कार्य हिन्दुओं के लिए राजा राममोहन राय ने किया, वही कार्य सैयद अहमद खाँ ने भारतीय मुसलमानों के लिए किया। मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिकीकरण की ओर ले जाने का श्रेय सैयद अहमद खाँ को है जिसका केन्द्र बिन्दु अलीगढ़ आंदोलन रहा। 1857 के विद्रोह के समय उन्होंने अंग्रेजों की विशेष सेवा की थी। इससे अंग्रेजों की जो सद्भावना उन्होंने प्राप्त की उसका उपयोग उन्होंने भारतीय मुसलमानों के हित में किया।

भारतीय मुसलमानों ने उस समय तक अपने आपको न केवल अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता से पृथक रखा था, बल्कि अंग्रेजों से उनके संबंध भी अच्छे न थे और यह उनकी अवनति का मुख्य कारण था। इसलिए सर सैयद अहमद खाँ ने अपने जीवन के दो मुख्य उद्देश्य बनाए–

1. अंग्रेजों और मुसलमानों के संबंधों को दृढ़ बनाना।
2. मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने मुसलमानों को यह समझाया कि उनके हितों की पूर्ति सरकार के प्रति वफादार रहने से ही हो सकती है, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजों को यह बतलाया कि मुसलमान हृदय से अंग्रेजी शासन के विरूद्ध नहीं हैं और अंग्रेजों की थोड़ी सी सहानुभूति से वे सरकार के प्रति वफादार हो जायेंगे। सैयद अहमद खाँ ने इस अवसर का लाभ उस समय

उठाने का प्रयास किया, जब अंग्रेज हिन्दुओं की राजनीतिक गतिविधियों से सशंकित थे। उन्हें इस कार्य में शीघ्र ही सफलता मिल गई।

अपने दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए सैयद अहमद खाँ ने गाजीपुर में एक अंग्रेजी शिक्षा का स्कूल स्थापित किया। 1864 में उन्होंने 'साइंटिफिक सोसायटी' की स्थापना की।[28] यह अंग्रेजी पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद करती थी। साथ ही इस संस्था ने समाज सुधार के संबंध में एक अंग्रेजी उर्दू 'तहजीब–उल–अखलाक' पत्रिका का प्रकाशन किया था।[29]

सैयद अहमद खाँ की सबसे बड़ी उपलब्धि 1875 में अलीगढ़ में 'मुहम्डन ऐंग्लों ओरिएन्टल कॉलेज' की स्थापना थी। जो आगे चलकर 1890 में 'अलीगढ़ यूनिवर्सिटी' के रूप में विकसित हुआ।[30] कालांतर में यह संस्था भारतीय मुसलमानों का सबसे महत्त्वपूर्ण शैक्षिक संस्थान बन गया। चिराग अली, उर्दू कवि अल्ताफ हुसैन हाली, नजीर अहमद और मौलाना शिबाली नोमानी इस संस्था के प्रमुख नेता हुए। आगे चलकर अलीगढ़ विश्वविद्यालय मुसलमानों में राजनीतिक चेतना एवं गतिविधियों का केन्द्र बन गया। अलीगढ़ आंदोलन के नेताओं ने सामाजिक, साँस्कृतिक सुधारों से ज्यादा राजनीतिक लक्ष्यों की ओर ध्यान देना आरंभ किया।

सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार करने और उनके हितों की रक्षा के उद्देश्य से 'मुहम्डन एज्युकेशनल सोसायटी' तथा 1893 में 'मुहम्डन ऐंग्लों ओरिएन्टल डिफेन्स ऐसोसिएशन ऑफ इंडिया' की स्थापना की।[31] इन सबके परिणामस्वरूप मुस्लिम समुदाय में एक नवीन चेतना का संचार हुआ और उनका सामाजिक स्तर दिनों–दिन सुधरता गया। इस प्रकार इस आंदोलन ने मुसलमानों की शिक्षा, समाज सुधार और जागृति के लिए जो कार्य किए वह उस समय तक किसी भी अन्य भारतीय ने मुसलमानों के लिए नहीं किया था। उन्होंने मुस्लिम समाज एवं धर्म में सुधार करके उन्हें आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली।

पारसी धर्म सुधार आंदोलन

19वीं शताब्दी के सुधार आंदोलनों से पारसी समाज भी अछूता नहीं रहा। 1851 में नौरोजी फरदोनजी, दादाभाई नौरोजी, एस. एस. बंगाली आदि के सहयोग से 'रहनुमाई माजदायन समाज' की स्थापना की गई।[32] इसका उद्देश्य पारसियों की सामाजिक अवस्थाओं का पुनरूद्धार तथा जोरोस्ट्रियन धर्म को उसकी प्राचीन पवित्रता पुनः स्थापित करना था। इसने महिलाओं की शिक्षा, विवाह एवं समाज में उनकी स्थिति सुधारने के प्रयत्न किए। पारसी समाज सुधार आंदोलन के प्रमुख नेता के. आर. कामा तथा बी. एम. मालाबारी थे। इनके प्रयासों से पारसी समाज प्रगतिशील बना और धीरे–धीरे सामाजिक एवं आर्थिक तौर पर भारतीय समाज के सबसे आधुनिक वर्ग में शामिल हो गया।

सिक्ख सुधार आंदोलन

सिक्ख धर्म विश्व के सभी धर्मों में सबसे नवीन था। यह सुधार एवं सामन्जस्य के आदर्शों को लेकर शुरू हुआ था। 19वीं शताब्दी के आते–आते तक इस धर्म में भी कुछ बुराइयाँ उत्पन्न हो गई थीं जिससे सिक्ख धर्म की सादगी समाप्त हो गई थी। कुछ सिक्ख सुधारकों ने इस सादगी को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया।

सिक्ख सुधार आंदोलन के अगुआ दयालदास थे। इन्होंने सिक्ख धर्म विरोधी प्रवृत्तियों के विरूद्ध उपदेश दिया और मूर्तिपूजा को अनावश्यक बताते हुए इसका विरोध किया। धीरे–धीरे सिक्ख सम्प्रदाय के लोग निरंकारी कहलाने लगे। यह निरंकारी आंदोलन पंजाब और उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रांत में लोकप्रिय रहा।

सिक्ख धर्म का दूसरा सुधार आंदोलन 'नामधारी आंदोलन' था। इसके नेता रामसिंह थे। उन्होंने अत्यंत शुद्धता और सादगी के उपदेश के साथ–साथ भक्ति पर अधिक बल दिया। समय के साथ ही इस आंदोलन ने सम्पूर्ण सिक्ख जाति पर अपना प्रभाव कायम कर लिया। किन्तु, सरकार विरोधी गतिविधियों के कारण गुरू रामसिंह को रंगून भेज दिया गया और कालांतर में इस आंदोलन का प्रभाव सीमित होता चला गया।

सिक्ख धर्म का एक अन्य सुधार आंदोलन 1870 में शुरू हुआ। सिक्ख सुधारकों ने एक सिंहसभा बनाई और उसके दो उद्देश्य बतलाए। पहला, सिक्खों को नए आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान एवं शिक्षा का लाभ दिलाना और दूसरा, पिछड़े एवं अशिक्षित सिक्खों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में सुधार करना था। आंदोलन अपने कार्य में सफल रहा। कई आधुनिक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई, जिनमें सबसे उल्लेखनीय अमृतसर का खालसा कॉलेज है, जो सन् 1892 में स्थापित हुआ था।[33]

समाज सुधार में सरकार का योगदान

समाज में व्याप्त अमानवीय प्रथाओं को समाप्त करने के लिए विभिन्न समाज सुधार आंदोलनों के फलस्वरूप प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार ने समाज सुधार करने के उद्देश्य से समय–समय पर कानून बनाकर अपना योगदान दिया। इन कानून में थे–

बाल वध

पहला सामाजिक सुधार संबंधी कानून 19वीं सदी के प्रारंभ में बना। इसके पूर्व ईस्ट इण्डिया कंपनी की सरकार ने सामाजिक मामलों में तटस्थता की नीति अपनाई थी। कुछ हिन्दुओं में यह पुरानी प्रथा चली आ रही थी कि वे धार्मिक संकल्पों की सिद्धि हेतु बच्चों को गंगा में फेंक देते। बाल हत्या का दूसरा रूप पश्चिमी भारत में राजपूतों, जाटों एवं मेवातों में प्रचलित था। वहाँ लड़कियों के विवाह में कठिनाई होती थी। अतः माँ–बाप उन्हें पैदा होते ही मार डालते थे। सरकार ने इसे रोकने के लिए 1795 में बंगाल नियम 16 वें और 1803 ई. के नियम 3 ने क्रमशः शिशु हत्या के दोनों रूपों को अपराध घोषित किया।[35]1804 में दूसरे नियम के द्वारा 1795 के कानून को नये जोड़े गये प्रांतों पर भी लागू कर दिया गया।

सती प्रथा

सती प्रथा हिन्दू समाज की सबसे बड़ी अमानवीय प्रथा थी, जिसके अनुसार पति के मरने पर विधवाओं को अपने पति के साथ चिता पर जलकर मरना होता था। राजा राममोहन राय के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप लार्ड विलियम बैंटिंक ने 4 दिसम्बर 1829 को

XVII वें नियम के द्वारा इसे मानव हत्या का गैर कानूनी एवं दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया।[36]

विधवा विवाह

विधवा विवाह की समस्या के निवारण हेतु 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध से विधवा–विवाह के लिए आंदोलन शुरू हुए। इससे प्रभावित होकर सरकार ने 27 जुलाई 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित करके विधवाओं का विवाह वैध घोषित कर दिया और इस विवाह से उत्पन्न संतानों को भी वैध घोषित कर दिया।

ब्रह्मविवाह अधिनियम

विधवा पुनर्विवाह आंदोलन के साथ–साथ समाज सुधारकों ने बाल विवाह और बहु विवाह को रोकने के लिए भी आंदोलन किए। इन आंदोलनों और केशवचन्द सेन के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप सरकार ने 'नेटिव मेरिज एक्ट' पास किया जिसके अनुसार बाल विवाह और बहु विवाह को निषिद्ध कर दिया और अंतरजातीय तथा विधवा विवाह को वैध ठहराया गया। 1891 में 'ऐज ऑफ कॅन्सेन्ट एक्ट' पास हुआ।[37] जिसमें लड़के लड़कियों की आयु क्रमशः 12 व 10 वर्ष कर दी गई। आगे चलकर 20वीं शताब्दी में 1930 में 'शारदा एक्ट' के द्वारा विवाह के लिए कन्या की आयु कम से कम 14 और युवकों की 18 वर्ष निश्चित की गई।[38]

निष्कर्षत

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि समाज सुधार के इन प्रयासों ने देश में सामाजिक उन्नयन के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। यह जागरूकता बहुपक्षीय थी इसने जहाँ एक ओर भारतीय राष्ट्रवाद के विकास और राजनीतिक जागरूकता हेतु आधार निर्मित किया वहीं दूसरी ओर भारतीयों में आत्म–निर्भरता तथा दृढ़ संकल्प की भावना को जन्म दिया। सुधारकों ने शिक्षा के क्षेत्र में किए कार्यों से राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्वतंत्रता तथा मौलिक अधिकारों को बल मिला। इन आंदोलनों से जहाँ एक ओर जाति व्यवस्था की कठोरता में कमी आयी वहीं दूसरी ओर समाज में महिलाओं की स्थिति में सुधार आने प्रारंभ हुए।

यद्यपि इन सामाजिक–धार्मिक सुधार आंदोलनों की कुछ सीमाएँ थीं परन्तु निश्चित रूप से यह एक निर्विवाद सत्य है कि इन आंदोलनों ने भारतीय समाज की सामाजिक–सांस्कृतिक जागरूकता पर आश्चर्यजनक और चिरस्थायी प्रभाव डाला, जिसने आधुनिक भारत के विकास की आधारशिला रखी।

In conclusion, we can say that these social reform efforts played an important role for social upliftment in the country. This awareness was multilateral, on the one hand it formed the basis for the development of Indian nationalism and political awareness, on the other hand, gave rise to a sense of self-reliance and determination among Indians. Political, social, economic and religious freedom and fundamental rights were strengthened by the reformers where the work done in the field of education. While these movements reduced the rigidity of the caste system on the one hand, on the other hand, the condition of women in the society began to improve.

Although these socio-religious reform movements had some limitations, it is certainly an undeniable truth that these movements had a surprising and lasting impact on the socio-cultural awareness of Indian society. Which laid the foundation for the development of modern India.

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *जेम्स केलोक, महादेव गोविन्द रानाडे : पेट्रियट एण्ड सोशल सर्वेट, कलकत्ता, 1926, पृ. 200–205*
2. *ओ. मोली (संपादित), मार्डन इण्डिया एण्ड दी वेस्ट, लन्दन, 1941, पृ. 27, 28*
3. *ओ. मोली, वही, पृ. 17*
4. *बुकानन, पटना–गया रिर्पोट खण्ड–i, पृ. 352–353*
5. *सी.एफ. एन्ड्रयूज, इण्डियन दि रिनायसेन्स इन इंण्डियन, पूर्वोक्त, पृ. 70*
6. *ऋग्वेद में विधवाओं का उल्लेख करने वाले एक अंश में विधवाओं की सामाजिक स्थिति का सबसे आगे बताते हुए एक शब्द अग्रे का प्रयोग किया गया था। लेकिन जब इस अग्रे शब्द को किसी रहस्मयी प्रक्रिया से अग्नि बना दिया गया तो विधवा का स्थान अग्नि में बना दिया।*
   पी.एन. चौपड़ा, बी.एन. पुरी, एम.एन. दास, भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, भाग–3, दिल्ली, 1994, पृ. 90
7. *के. के दत्ता, डॉन ऑफ दि रेनांसा इण्डिया, बम्बई, 1964, पृ. 55*
8. *के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परंपरा, नई दिल्ली, 1979, पृ. 363–364*
9. *वही, पृ. 368*
10. *आर. एल. शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1998, पृ. 349*
11. *ए.आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि (द्वितीय संस्करण), दिल्ली, 1977, पृ. 232*
12. *यशपाल और बी. एल. ग्रोवर, आधुनिक भारत का इतिहास : एक नवीन मूल्यांकन, नई दिल्ली, 1999, पृ., 273*
13. *वही, पृ. 276*
14. *विमान बिहारी मजूमदार, दि गाँधीयन कॉन्सेप्ट ऑफ दि स्टेट, पटना, 1957, पृ. 247*
15. *डा. अमरेश्वर अवस्थी एवं डा. राम कुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, दिल्ली, पृ. 63*
16. *यशपाल, और बी. एल. ग्रोवर पूर्वोक्त, पृ. 276*
17. *डा. पुरूषोत्तम नागर, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 52*
18. *पी. एन. चौपड़ा, बी. एन. पुरी, एम. एन. दास, पूर्वोक्त, पृ. 114*
19. *वही*
20. *सुमित सरकार, मार्डन इण्डिया (1885–1947), नई दिल्ली, 1883, पृ. 56–57*
21. *वही, पृ. 57*
22. *वही, पृ. 57 तथा तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, ज्योतिराव फुले, नई दिल्ली,1996, पृ. 21–25*

23. डा. पुरुषोत्तम नागर, पूर्वोक्त, पृ. 72
24. पी. एन. चौपड़ा, बी. एन. पुरी, एम. एन. दास, पूर्वोक्त, पृ. 121–125
25. पी. एन. चौपड़ा, बी. एन. पुरी, एम. एन. दास, पूर्वोक्त, पृ. 127
26. हैंस कॉह्न, ए. हिस्ट्री ऑफ नेशनलिटी इन दि ईस्ट, 1929, पृ. 36
27. आर. एल. शुक्ल, पूर्वाक्त, पृ. 359
28. सुमित सरकार, आधुनिक भारत, नई दिल्ली, 1992, पृ. 100
29. डा. पुरुषोत्तम नागर, पूर्वाक्त, पृ. 295
30. ए. आर. देसाई, पूर्वाक्त, पृ. 254
31. डा. अमरेश्वर अवस्थी एवं डा. रामकुमार अवस्थी, पूर्वाक्त, पृ. 327
32. यशपाल, और बी. एल. ग्रोवर पूर्वोक्त, पृ. 278
33. पी. एन. चौपड़ा, बी. एन. पुरी, एम. एन. दास, पूर्वोक्त, पृ. 128–129
34. यशपाल, और बी. एल. ग्रोवर पूर्वोक्त, पृ. 278
35. सीताराम शर्मा, उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय धार्मिक तथा सामाजिक जागरण, भोपाल, 1977, पृ. 157
36. के. सी. व्यास, दि सोशल रेनांसा इन इण्डिया, बम्बई, 1957, पृ. 24–25
37. सीताराम शर्मा, पूर्वाक्त, पृ. 199
38. टी. वी. पर्वटे, महादेव गोविन्द रानाडे, बम्बई, 1961, पृ. 155–156